

## अपरिग्रहवाद : आर्थिक समता का आधार

□ डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी'

[प्राध्यापक, जैन विश्वभारती, लाडनूँ (राज०)]

भगवान् महावीर ने लोक-कल्याण के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच व्रतों के पालन पर विशेष बल दिया। इन पाँचों का हम चाहे जो भी नाम दे दें—सभी में अहिंसा व्याप्त है और अपरिग्रह को अहिंसा का मेरुदण्ड माना गया है। अपरिग्रह को बिना अपनाये अहिंसा का सम्यक् आचरण सम्भव नहीं। बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की हिंसा के त्याग से ही पूर्ण अहिंसा का पालन किया जा सकता है। इसलिए भगवान् महावीर ने बाहर की हिंसा से बचने के लिए 'प्रेम तत्त्व' दिया तो दूसरी ओर भीतरी हिंसा को रोकने के लिए 'अपरिग्रह तत्त्व'। वैसे अन्तरंग और भावनात्मक दृष्टि से अपरिग्रह को भले ही अहिंसा में गभित मान लें, किन्तु अहिंसा की परिपूर्णता तथा निःशल्य होकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए अपरिग्रह को प्रारम्भ से ही पृथक् व्रत के रूप में स्वीकार किया गया। कार्य क्षेत्र तथा बाह्य व्यवहार में भी भिन्नता के कारण दोनों का पृथक्-पृथक् रूप में प्रतिपादन आवश्यक था।

अपरिग्रह शब्द परिग्रह के निषेध का सूचक है। परिग्रह शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—“परि समन्तात् मोह बुद्ध्या गृह्यते यः स परिग्रहः” अर्थात् मोह (ममत्व) बुद्धि के द्वारा जो (पदार्थादि) चारों ओर से ग्रहण किया जाए वह परिग्रह है। आचार्य उमास्वामि ने सूच्छा को परिग्रह कहा है। वस्तुतः मन और इन्द्रियों की प्रकृति चंचल है। मन में अनन्त संकल्प-विकल्प जन्म लेते रहते हैं। जिनकी दौड़ असीम होती है और ये सदा नित-नवीन इच्छाओं को जन्म देता रहता है। साथ ही देखा जाय तो ये इच्छायें ही परिग्रह का मूल कारण हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के मन में सर्वप्रथम अनधिकृत सामग्री प्राप्ति की इच्छा होती है—इसे हम इच्छारूप परिग्रह कह सकते हैं। इसके बाद उसके संग्रह की दिशा में प्रवृत्ति होती है—यह संग्रहरूप परिग्रह है और इसके साथ ही साथ संग्रहीत वस्तुओं पर ममत्व स्थापित हो जाता है तब यही ममत्व आसक्ति का रूप धारण कर लेता है। ममत्व जितना घना होता है, संग्रहवृत्ति उतनी ही बढ़ती जाती है। कोई भी व्यक्ति कितना ही दरिद्र, भिखारी या बाह्य रूप से अपरिग्रही हो, ममत्व भाव से युक्त होने पर वह अन्दर से उतना ही महापरिग्रही हो सकता है। इसके ठीक विपरीत ममत्व-भाव से रहित अनासक्त वृत्तिवाला मनुष्य अतुल वैभव के बीच भी अपरिग्रह अणुव्रत का धारक हो सकता है। क्योंकि अपरिग्रह किसी वस्तु के त्याग का नाम नहीं अपितु किसी वस्तु में निहित ममत्व (सूच्छा) के त्याग का नाम है। यदि वस्तु के अनावश्यक संग्रह को रोकना है तो उस वस्तु के त्याग से पूर्व उस उस वस्तु में निहित ममत्व का त्याग आवश्यक होगा।

यथार्थतः व्यक्ति की आकांक्षाएँ आकाश की भाँति अनन्त होती हैं, ज्यों-ज्यों इनकी पूर्ति होने लगती है वैसे ही लोभ और मोह बढ़ने लगते हैं और वह अनैतिक रूप से धन संग्रह में संलग्न हो जाता है। मोह-बुद्धि के कारण वह इसी में अपनी सम्पूर्ण सफलता और सुख मान बैठता है फिर उसे यह भाव जाग्रत नहीं होता कि मेरे इस क्षणिक



सुख के पीछे कितनों के सुखों का गला घोटा जा रहा है। वैसे आत्मरक्षा, ऐन्द्रिय सुख, सुखद भविष्य और जीविका की अनिश्चितता आदि ऐसे कारण भी हैं जो अत्यधिक संग्रह की प्रवृत्ति को जन्म देते हैं, जबकि इन्हीं मनोवृत्तियों के कारण उसके पड़ोसी और उसके नगर तथा देशवासी अभावग्रस्त एवं दुःखी रह जाते हैं। और इन्हीं वृत्तियों के कारण बाजार में आवश्यक वस्तुओं का कृत्रिम अभाव उत्पन्न किया जाता है। इसी से मूल्यस्तर लगातार बढ़ता ही जाता है।

मान लीजिये सभी के दैनिक अनिवार्य उपयोग की कोई वस्तु बाजार में आए, कोई धनवान व्यक्ति ही उसे पूरा का पूरा खरीद ले तो मध्यम या निर्धन वर्ग जो अपनी आर्थिक परिस्थिति के कारण आवश्यकतानुसार सीमित मात्रा में ही उस वस्तु को खरीदकर उपयोग में लाना चाहता था, उससे वह वंचित कर दिया गया। ऐसी ही अनेक स्थितियों में विषमता का जन्म होता है। संग्रहशील वर्गों के विरुद्ध सृजन और चिन्तन में जो वर्ग-संघर्ष चल रहा है, उसके जिम्मेदार संग्रहशील व्यक्ति और वर्ग हैं। आज विश्व की स्थिति पर दृष्टि डालें तो दिखाई देगा कि लोग विभिन्न स्रोतों से असहज-भाव से अर्थोपार्जन और संग्रह की दौड़ में तन्मय हो रहे हैं। इसी प्रवृत्ति ने मानव-मानव के बीच विषमता की खाई तैयार कर दी। क्योंकि आज पैसा ही प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु का मापदण्ड बनकर रह गया है। माना कि सामाजिक व्यवस्था का आधार एवं उदरपूर्ति का साधन धन है किन्तु तृष्णा के वशीभूत हो जब साधन ही साध्य का रूप धारण कर ले तब उसकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति विवेक-अविवेक, न्याय-अन्याय आदि का बिल्कुल भी ध्यान नहीं रखता और संग्रह की वृत्ति बढ़ती ही जाती है। जब पूँजी कुछ के ही हाथ में सीमित होकर रह जाती है तब यहीं से पूँजीवाद का जन्म होता है जो आर्थिक विषमता का द्योतक है। यही आर्थिक विषमता, ईर्ष्या, द्वेष और वैमनस्यता को जन्म देती है। भगवती आराधना (गाथा ११२१) में कहा है—“राग, लोभ और मोह जब मन में उत्पन्न होते हैं, तब इस आत्मा में बाह्य परिग्रह ग्रहण करने की बुद्धि होती है।” वस्तुतः हम अभ्यस्त रहे हैं बाहर देखने के और उसी में मूर्च्छित हैं। इसके पार हमें कुछ दिखता ही नहीं है। आश्चर्य तो यही है कि हम इस मूर्च्छा को ही जागरण मान बैठते हैं।

भगवान् महावीर ने कहा—“असविभागी न हु तस्स मोक्खो” (दशवैकालिक ६।२।२३)—जो व्यक्ति बाँटकर नहीं खाता उसके मुक्ति नहीं मिल सकती। व्यावहारिक दृष्टि से इस सिद्धान्त को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि जिस राष्ट्र में प्रजा के बीच समान वितरण की व्यवस्था नहीं है वह राष्ट्र सही मायने में स्वतन्त्र नहीं रह सकता। जैन धर्म के आचार पक्ष में दान के प्रसंग में प्रयुक्त “संविभाग” शब्द समविभाजन—समान वितरण का ही द्योतक है। “परिग्रह परिमाण” नामक व्रत का विधान भी परिग्रह की सीमा निर्धारण करने को कहता है। अपनी अनिवार्य आवश्यकता के योग्य वस्तुयें रखकर शेष अभावग्रस्त लोगों में वितरण करना परिग्रह का परिमाण है। चूँकि गृहस्थ को पूर्ण रूप से परिग्रह से विरत रहना कठिन है किन्तु उसका परिशीमन तो निर्धारित किया ही जा सकता है। आचार्य समन्तभद्र ने भी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है—जो बाह्य के दस परिग्रहों (क्षेत्र, वस्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, शयनासन, यान, कुप्य और भाण्ड) में ममता छोड़कर निर्ममत्व में रत होता हुआ माया आदि रहित, स्थिर और सन्तोषवृत्ति धारण करने में तत्पर है वह संचित परिग्रह से विरक्त अर्थात् परिग्रह त्याग प्रतिमा का धारक श्रावक है।

एक प्रजातान्त्रिक देश का लक्ष्य समभाव के आधार पर सर्वहितकारी सर्वोदय समाज की स्थापना करना है पर यह उत्तम व्यवस्था इसलिए कार्यान्वित नहीं हो पाती क्योंकि लोगों की संग्रह की प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ी हुई है। आज गरीबी-अमीरी की भेदरेखा मिटाने के लिए समाजवाद-साम्यवाद की चर्चा चलती है किन्तु इसके द्वारा जिन बुराइयों को मिटाने की बात होती है, उसके लिए उन्हीं बुराइयों का सहारा साधन के रूप में प्रयुक्त होता है। इस प्रवृत्ति के पारस्परिक आन्तरिक कलह, प्रतिद्वन्द्विता, आतंक और प्रतिशोध जैसे भयंकर परिणाम सामने आये हैं। वस्तुतः लोकतन्त्र अथवा समाजवाद—ये दो समतामूलक समाज की रचना के बाह्य प्रयोग हैं। इन बाह्य प्रयोगों की सफलता मानव के आन्तरिक धरातल (अपरिग्रह की भावना) पर प्रतिष्ठित समता पर ही निर्भर है। क्योंकि समतामूलक समाज में ही सच्ची मानवता की कल्पना की जा सकती है।

समता का अर्थ सामाजिक और राष्ट्रीय सन्दर्भ में इतना ही है, कि स्वस्थ समाज की स्थापना हेतु प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति-प्रदत्त गुणों के विकास के समुचित अवसर प्राप्त हों। अपरिग्रह आर्थिक समता का क्षेत्र विस्तृत करता है। भगवान महावीर ने कहा—“अनावश्यक संग्रह न करके उसका वितरण जन-कल्याण के लिए करो।” धन संग्रह से अपव्यय की आदत का विकास होता है और नैतिक मूल्यों पर आघात पहुँचता है। जीवन में नैतिक मूल्यों का अपना विशेष महत्त्व है, उन्हें खोकर कोई भी व्यक्ति कितना ही वैभव प्राप्त कर ले, वह अपनी और समाज की दृष्टि में गिर जाता है।

गांधी युग ने मानवता की नव रचना के लिए चार मूलभूत तत्त्व दिये—सर्वोदय, सत्याग्रह, समन्वय और साम्ययोग। इनकी भी सफलता और सार्थकता अपरिग्रह की नींव पर आधारित है। अन्तिम तत्त्व साम्ययोग की व्याख्या में विनोबा भावे ने कहा—“अभिधेयं परमं साम्यम्” अर्थात् हमारे चिन्तन का मुख्य विषय जीवन में परम साम्य की प्रतिष्ठापना है। इसके लिए प्रथम आर्थिक साम्य है जो प्रत्येक व्यवहार में मददगार होता है। दूसरा सामाजिक साम्य है जिसके आधार पर समाज में व्यवस्था रहती है और तीसरा मानसिक साम्य है जिससे मनुष्य के मन का नियन्त्रण होता है और जो बहुत जरूरी है। गांधीजी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त आर्थिक असमानता को दूर करने का महत्त्वपूर्ण साधन है जिसके मूल में अपरिग्रहवाद की भावना अन्तर्निहित है, किन्तु भारत में कुछ विरोधी विचारधाराओं और मनोवृत्तियों के कारण यह सिद्धान्त लागू नहीं हो सका। लोगों को इस विषय में जानकारी भी कम ही है। ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त में मूलभूत यह भावना निहित थी कि धनिक अपने धन के मालिक नहीं, ट्रस्टी हैं। यह श्रम और पूँजी के बीच का संघर्ष मिटाने, विषमता और गरीबी हटाने तथा आदर्श एवं अहिंसक समाज की स्थापना करने में बहुत सहायक है। क्योंकि इसके अन्तर्गत अर्थव्यवस्था में पूँजीपतियों या मालिकों को समाज-हित में अपना स्वामित्व छोड़कर ट्रस्टी बनने का अवसर दिया जाता है। वस्तुतः आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है पूँजी और मजदूरी के बीच झगड़े को हमेशा के लिए मिटा देना।

आजकल अर्थशास्त्र में एक शब्द प्रचलित है—पावर्टी लाइन (Poverty Line) अर्थात् गरीबी की रेखा। इसका अर्थ है जीवन के लिए आवश्यक तत्त्व जैसे भोजन, निवास, वस्त्र, चिकित्सा, शिक्षा आदि प्राप्त करने के लिए आमदनी का एक न्यूनतम स्तर अनिवार्य रूप से होना। यदि आमदनी इससे कम हो जाए तो ये मूलभूत आवश्यकतायें पूरी नहीं होगी। इस स्तर को राष्ट्रीय न्यूनतम से नीचे आमदनी वाले मानव-समूह की गरीबी की रेखा को सबसे निम्न कहा जाता है। आमदनी के संचय और केन्द्रीकरण के कारण स्वस्थ आर्थिक विकास अवरुद्ध हुआ है क्योंकि इसने विकास कार्यों में मानसिक और भौतिक लोकसहकार नहीं होने दिया। विषमता में जो अत्यधिक तीव्रता और तीखापन आया है, वह वर्तमान औद्योगिक सभ्यता की देन है। आर्थिक विषमता में सामाजिक विषमता भी जुड़ गयी। पर अब और अधिक आर्थिक विषमता के निराकरण का स्वाभाविक परिणाम सामाजिक विषमता के निराकरण पर भी होगा। आर्थिक समता का अपना एक स्वतन्त्र मूल्य है जिसका अपरिग्रह की भावना से सीधा सम्बन्ध है।

सुप्रसिद्ध विचारक और साहित्यकार जैनेन्द्र जी ने एक बार पर्युषण पर्व व्याख्यान माला में कहा था—“पदार्थ परिग्रह नहीं, उनमें ममता परिग्रह है। समाज में आज कितनी विषमता है? एक के पास धन का ढेर लग गया है, दूसरी ओर खाने को कौर नहीं। ऐसी स्थिति में अहिंसा कहाँ? धर्म कहाँ? —आप सच मानिये कि हमारे आसपास भूखे लोगों की भीड़ मँडरा रही हो तो उसके बीच महल के बन्द कमरे में धर्म का पालन नहीं हो सकता।”<sup>१</sup> जैनेन्द्र जी के उक्त विचार आज के सन्दर्भ में विशेष प्रेरक हैं। इसी तरह उपाध्याय अमरमुनि जी ने लिखा है कि “गरीबी स्वयं में कोई समस्या नहीं, किन्तु अमीरी ने उसे समस्या बना दिया है। गड़ढा स्वयं में कोई बहुत चीज नहीं, किन्तु पहाड़ों की असीम ऊँचाइयों ने इस धरती पर जगह-जगह गड़ढे पैदा कर दिये हैं। पहाड़ टूटेंगे तो गड़ढे अपने

१. “श्रमण” मासिक, जनवरी ५६, अंक ३, वर्ष ७ से उद्धृत।



आप भर जायेंगे। सम्पत्ति का विसर्जन होगा तो गरीबी अपने आप दूर होगी।<sup>१</sup> आचार्य गुणभद्र ने बहुत सुन्दर लिखा है कि<sup>२</sup> प्रत्येक के पास एक आशा रूपी गड्ढा है उसमें यदि सारे विश्व को भी डाल दिया जाय तो भी वह कोने में अणु के समान बैठ जायेगा। कवि कहता है कि इस प्रकार के गड्ढे विश्व के सारे प्राणियों के पास एक-एक हैं तो फिर किसके हिस्से में क्या आयेगा? यह कहा नहीं जा सकता। फिर भी यह मोही जीव व्यथं ही पंचेन्द्रियविषय-भोगों की आकांक्षा करके दुःखी हो रहा है। इसलिए आवश्यकता है नीति और न्याय से आवश्यकतानुसार धनोपार्जन करने, इच्छाओं तथा वासनाओं को नियन्त्रित एवं नियमित करने की और इसमें अपरिग्रहवाद अपनी अप्रतिम भूमिका निभा सकता है। क्योंकि स्वेच्छापूर्वक सम्पत्ति का सीमा नियन्त्रण करना एक सामाजिक गुण है जिसका परिणाम सामाजिक न्याय व उपयोगी वस्तुओं का उचित वितरण है, इसी से कमजोर वर्ग को जीने का अवसर मिलेगा।

परिग्रह की सीमा बाँधकर चलना एक सर्वप्रसरणशील गुण है। जो व्यक्ति के लिए सत्य है, वही समुदाय के लिए भी सत्य होगा चाहे वह समुदाय सामाजिक हो या राजनैतिक। अनासक्ति और अपरिग्रह की साधना हमारे सामाजिक जीवन में आधिक समानता ला सकती है क्योंकि अपरिग्रह समाज-धर्म एवं समाज-व्यवस्था का सबसे बड़ा अंग है और नैतिकता के आधार पर समस्याओं के समाधान में अपरिग्रहवाद बहुत प्रभावकारी सिद्ध हो सकता है। क्योंकि आज हम समाजवाद लाने की सोचें या गरीबी हटाने की, अपरिग्रह की भावना के बिना वास्तविक समाजवाद नहीं आ सकता और न गरीबी हट सकती है।

कभी-कभी समाजवाद स्थापित करने का दूसरा ही रूप दिखाई देता है। वह यह कि सत्ता और कानून के द्वारा अमीरी-गरीबी की भेद-रेखा मिटाने का प्रयत्न चलता है। तरह-तरह के कर (टैक्स) लगाकर धनिक और गरीब वर्ग की भेद-रेखा समाप्त करना भी इसका लक्ष्य है किन्तु क्या सत्ता, कानून और बल-प्रयोग सच्चा समाजवाद ला सकता है? कभी नहीं। बिना हृदय परिवर्तन और जनजागरण के मात्र कानून से किसी भी समस्या का स्थायी एवं अच्छा समाधान सम्भव नहीं। अलकजंदर सोलझेनित्सीन ने कहा है—“कानून के शब्द इतने ठण्डे, इतने औपचारिक होते हैं कि उनका समाज पर कोई कल्याणकारी प्रभाव नहीं हो सकता। जब भी समाज-जीवन के तन्तु कानूनी सम्बन्धों द्वारा बने होते हैं, एक तरह की मध्यस्तरीय नैतिकता समाज में व्याप्त रहती है और मनुष्य के उत्तम अमिक्रम पंगु हो जाते हैं,<sup>३</sup> इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि अपरिग्रहवाद जैसे सिद्धान्तों पर होने वाली वार्ताओं, विचारों एवं इसके कल्याणकारी परिणामों को लोगों के समक्ष लाया जाय, जिससे भावनात्मक दृष्टि से इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए अनुकूल वातावरण बनाकर जनमानस को उद्वेलित किया जाय ताकि समता के सुदृढ़ धरातल का निर्माण हो सके।

□

१. जैन प्रकाश, ८ अप्रैल, १९६९ के पृ० ११ से उद्धृत।
२. आशा गर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।  
कस्य किं कियदायाति वृथा वै विषयैषिता ॥
३. सर्वोदय साहित्य (सर्व सेवा संघ, वाराणसी) के मई-जून, १९७९ के अंक से उद्धृत।